



तत्त्वार्थसूत्र में निहित गुणस्थान के अभिगम की समीक्षा

भूमिका-

तत्त्वार्थसूत्र में सात नय (नैगम संग्रह व्यवहार ऋजुसूत्र शब्द समिभिरूढ एवं एवंभूत) वर्णित हैं। जीवसमास (जीवठाण अथवा गुणस्थान) में अंतिम दो नयों का अल्लेख नहीं है। वहीं सिद्धसेन दिवाकर नैगम नय को अस्वीकार करते हुए समिभिरूढ एवं एवंभूत के साथ इनकी संख्या 6 मानते हैं। इससे प्रतीत होता है कि नयों की अवधारणा छठी सदी के उत्तरार्ध में विकसित हुई है और जीवसमास इससे पूर्व। जबकि गुणस्थानों के आधार पर अवलोकन किया जाय तो स्पष्ट होता है कि तत्त्वार्थसूत्र में गुणस्थानों की अवधारणा ज्यों की त्यों देखने को नहीं मिलती जबकि जीव समास में है। षट्खण्डागम में भी पाँच नयों का उल्लेख है। गुणस्थान की अवधारण लगभग पाँचवीं सदी के उत्तरार्ध और छठी सदी के पूर्वार्ध में कभी अस्तित्व में आयी होगी ऐसा माना जा सकता है।

जैन दर्शन में उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र को कर्म विशुद्धि का विवेचन करने वाला एक प्रमुख ग्रंथ माना जाता है। गुणस्थान सिद्धान्त की भाँति इसमें भी कर्मों के क्षय और उपशम की बात की गई है फिर भी कुछ भिन्नताएं दिखती हैं। तत्त्वार्थसूत्र में कर्म विशुद्धि की 10 अवस्थाएं मानी गई हैं जिनमें से प्रथम पाँच का सम्बन्ध दर्शनमोह तथा अंतिम पाँच का सम्बन्ध चारित्रमोह से है। तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय को ध्यान में रखते हुए यदि गुणस्थान का विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि आध्यात्मिक विकास का यह क्रम प्रथम सम्यक्दृष्टि की अपेक्षा से काफी मेल खाता है। इसे प्रवाहक्रम में निम्नवत् रूप से भी समझा जा सकता है - श्रावक और विरत के रूप में विकास - दर्शनमोह का उपशम- चौथी अवस्था में अनन्तानुबंधी कषायों का क्षपण- पाँचवीं अवस्था में दर्शनमोह का क्षय- छठवीं अवस्था में चारित्रमोह का उपशम- सातवीं अवस्था में चारित्रमोह का उपशान्त होना- आठवीं अवस्था में उपशान्त चारित्रमोह का क्षपण (क्षपक)- नौवीं अवस्था में चारित्र मोह क्षीण (क्षीण मोह) होना- दसवीं अवस्था में जिन की प्राप्ति।

आत्मा या जीव का स्वरूप-

ओपशमिक क्षायकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व मौदयिक पारिणामिकौ च॥ 1 ॥ द्विनवाष्टा दशैक विंशति त्रि भेदा यथाक्रमम।

उपर्युक्त सूत्र में आत्मा के भाव, विभिन्न पर्याय एवं उनकी अवस्थाएं बताई गई हैं। इन सभी को जैन दर्शन अधिकतम पाँच स्वरूपों में श्रेणीकृत करता है-

1. औपशमिक 2. क्षायिक 3. क्षयोपशमिक 4. मिश्र और 5. पारिणामिक। इन पाँच भावों के अनुक्रम से दो, नौ, अठारह, इक्कीस व तीन भेद हैं।

आत्मा में आश्रव (बन्ध हेतु या निमित्त) के कारण-

मन वचन व कायिक क्रियाओं का योग ही आश्रव है। इस योग में शुभाशुभ परिणति होती है (शुभः पुण्यस्या शुभः पापस्य)। दया दान ब्रह्मचर्य का पालन, शुभ काय योग, हिंसा चोरी अब्रह्म अशुभ काययोग, कठोर व मिथ्या भाषण अशुभ वाग्योग तथा दूसरों की भलाई-बुराई का चिन्तन शुभाशुभ मनोयोग कहलाता है। आठवें गुणस्थान तक ये आश्रविक योग कर्म बन्ध का निमित्त बनते हैं। “अधिकरणं जीवाजीवा ॥४॥ आद्यं संरम्भसमारम्भारम्भ योगकृतकारितानुमुत्त कषाय विशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकशः ॥९॥”

तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित अणुव्रती – महाव्रती की विशिष्टताएं तथा गुणस्थान संबंधी विधान-

तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित अणुव्रती – महाव्रती की विशिष्टताएं 5 - 8 वें गुणस्थान की अवस्थाओं के साथ सुमेल रखते प्रतीत होते हैं। अणुव्रत – महाव्रत के तहत साधक के सम्यक्त्व संबंधी आचरण हेतु व्यवस्थाएं गुणस्थान में कही गई हैं और तत्त्वार्थ सूत्र में इनका स्पष्ट वर्णन किया गया है। इस क्रम में व्रती दो प्रकार के होते हैं- अगारी (गृहस्थ) और अनगारी (त्यागी)। अणुव्रती अर्थात् अगारी तथा महाव्रती अर्थात् अनगारी। आत्मा सम्यक्त्व के साथ उच्चतर गुणस्थानों में बढ़ते हुए जिन गुणों व व्रतों को धारण करता है उन्हें व्रत कहा है। तत्त्वार्थसूत्र के 7वें अध्याय में इस प्रकार कहा गया है- “हिंसानृतस्तेयब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम ॥१॥ हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरत होना व्रत है। जब जीव इन व्रतों का सम्पूर्णरूप से पालन करता है तो वह महाव्रती कहलाता है। अणुव्रती – महाव्रती की कसौटी हेतु पाँच भावनाएँ कही गई हैं- तत्त्वैर्यार्थ भावनाः पञ्च पञ्च ॥३॥

1. अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ- ईर्या समिति, मनो गुप्ति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति, तथा आलोकितपान भोजन।
2. सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ- अनुवीचि भाषण, क्रोध प्रत्याख्यान, लोभ प्रत्याख्यान, भय प्रत्याख्यान निर्भयता, तथा हास्य प्रत्याख्यान।
3. अचौर्यव्रत की पाँच भावनाएँ- अनुवीचिअवग्रह याचन, अभीक्षणअवग्रह याचन, अवग्रहाव धारण, साधार्मिकअवग्रह याचन तथा अनुज्ञापितपान भोजन।
4. ब्रह्मचर्यव्रत की पाँच भावनाएँ- स्त्री पशुषण्कसेवित शय्यासन वर्जन, स्त्री रागकथा वर्जन, मनोहरेन्द्रियावलोकन वर्जन, पूर्वरतिविलास स्मरण वर्जन तथा प्रणीतरस वर्जन।
5. अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ- राग उत्पन्न करने वाले स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द पर न ललचाना आदि अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएं हैं।

अगारीव्रती संबंधी विधान-

1. अहिंसादि पाँच व्रतों का मर्यादित प्रमाण में पालन।
2. दिग्वरितव्रत, देशविरतिव्रत तथा अपने भोगरूप प्रयोजन अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण अधर्म व्यापार का त्याग आदि तीन गुणव्रत धारण करना।
3. सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग परिमाण, तथा अतिथिसंविभाग चार शिक्षाव्रतों का पालन।
4. निर्वाहक व पोषक कारणों को कम करते हुए कषायादि को मंद कर संलेखना धारण करना- मुनि सामान्यतः वर्तमान शरीर के अंत होने तक व्रत धरण करते हैं। किन्तु ग्रहस्थ भी श्रद्धापूर्वक सम्पूर्णतः इस व्रत को धारण कर सकते हैं।

अणुव्रत व महाव्रतों के अतिचार-

अतिचार साधना में बंधक बनते हुए जीव के गुणस्थान आरोहण की गति को पतनोन्मुख बनाते हैं। शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा, अन्यदृष्टि संस्तव ये पाँच सम्यग्दर्शन के अतिचार हैं।

तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित कर्म एवं उनकी प्रकृतियां-

कर्मों की 8 मूल प्रकृतियां हैं- ज्ञानावरण(5), दर्शनावरण(9), वेदनीय(2)-, मोहनीय(28), आयु(4), नाम (42) गोत्र कर्म (2) और अन्तराय(-5)।

संवर के प्रमुख घटक -

आश्रव निरोधः संवरः। 1 । स गुप्तिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः। 2 ।

आश्रव निरोध (रुकना) ही संवर है। यह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है जो कालान्तर में निर्जरा का निमित्त बनता है। संवर की यह स्थिति ही आत्मा को उच्च सम्यक्त्व की स्थिति की ओर ले जाती है। संवर के इन प्रमुख घटकों का विवेचन निम्नवत् स्वरूप में किया जा सकता है-

(अ) गुप्ति-सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः।4।

मन, वचन तथा काय योग का प्रशस्ति निग्रह ही गुप्ति का दमन करना कहलाता है अर्थात् सोच-समझकर व श्रद्धापूर्वक इन गुप्ति योगों को धारण करके अशुभता को रोकना एवं इन्हें सन्मार्ग पर ले जाना ही साधना के मार्ग पर अग्रसर होना है।

(आ) समिति- ईर्याभाषणानुप्रेक्षादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितिः।5।

ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और उत्सर्ग ये पांच प्रकार की समिति कही गई हैं जिनका अनुकरण साधक मुनिराज करते हैं।

अनुप्रेक्षा-भावनाएँ -

अनुप्रेक्षाएँ 12 हैं जिनका राग-द्वेष रहित गहन चिन्तन उत्कृष्ट साधक आत्म-शुद्धि हेतु करते हैं। अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा, संसारानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा, अन्यत्वानुप्रेक्षा, अशुचित्वानुप्रेक्षा, आश्रवानुप्रेक्षा, संवरानुप्रेक्षा, निर्जरानुप्रेक्षा, लोकानुप्रेक्षा, बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा और धर्मास्तिख्यातत्वानुप्रेक्षा आदि तत्त्वार्थ सूत्र में वर्णित उपर्युक्त बारह अनुप्रेक्षाएँ गुणस्थान के भावलिंगी पक्ष का अर्थात् 9-14वें गुणस्थान की ओर आगे बढ़ने के प्रावधानों के समरूप हैं।

परिषह-

साधना व तपस्चर्या का व्यवहार मार्ग ही परिषह हैं जिन्हें सम भावों से सहते हुए आत्मा को दृढ़ता के पथ पर आगे ले जाया जाता है। उमास्वामीजी तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय में कहते हैं-**मार्गाच्चननिर्जरार्थ परिषोढव्याः परिषहाः।।8।।** अर्थात् संवर मार्ग से च्युत न होने के लिए एवं कर्मों की निर्जरा हेतु सहन करने योग्य हों वे परिषह कही गई हैं। ये 22 हैं।

क्षुप्तिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोधवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरुस्कारप्र जाज्ञानादर्शनानि।।9।।

इन 22 परिषहों कुछ आपस में परस्पर विरोधी हैं यथा- शीत-उष्ण, शय्या व चर्या आदि जो एक साथ संभव नहीं है। अतः एक समय में आत्मा अधिकतम 19 परिषह ही सहन करता है। **एकादयो भाज्या**

युगपदेकस्मिन्नैकोन विंशितेः॥17॥ गुणस्थान विकास क्रम में इन परिषहों का स्थान 7वी - 9वी अवस्था की योग्याताओं के तहत रखा जा सकता है।

किस गुणस्थान में कितने परिषह होते हैं ?

सूक्ष्मसांपरायछद्मस्थवीतरागयोश्चतुर्दशः॥10॥ एकादश जिने॥11॥ बादरसाम्पराये सर्वे॥12॥

सूक्ष्मसाम्पराय नामक 10वें और छद्मस्थ वीतराग अर्थात् 11वें उपशान्तमोह तथा 12वें क्षीणमोह नामक गुणस्थान में 14 परिषह होते हैं- क्षुदा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा और अज्ञान। इसलिए कहा जाता है कि मोह व योग के निमित्त से होने वाली आत्म-परिणामों की तरतमता को गुणस्थान कहते हैं। अयोग केवली नामक 13वें गुणस्थान में उक्त 14 में से अलाभ, प्रज्ञा व अज्ञान को छोड़कर शेष 11 परिषह ही होते हैं। बादर साम्पराय अर्थात् स्थूल कषाय वाले छठवें से 9वें गुणस्थान तक सभी परिषह रहते हैं क्योंकि इसमें कर्मों का उदय कारणभूत होता है।

कौन से परिषह किस कर्म के उदय से होते हैं ?

ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने॥13॥ दर्शनमोहोन्तरायलाभौ॥14॥

चारित्रमोहेनाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरुस्कार॥15॥ वेदनीयेशेषाः॥16॥

ज्ञानावरण कर्म के उदय से प्रज्ञा और अज्ञान, दर्शनमोहनीय और अन्तराय कर्म के उदय से क्रमशः दर्शन और अलाभ, चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरुस्कार(7) तथा वेदनीय कर्म के उदय से शेष 11- क्षुदा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध तृणस्पर्श और मल आदि परिषह होते हैं।

(इ) **सम्यक्त्व चारित्र के भेद(5)-** समयक्त्व चारित्र व्यवहारनय से साधना की विशुद्धि का शुद्ध साधन है जो गुणस्थान के उच्चतम शिखर तक ले जाने में सहायक होता है। **सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म तथा यथाख्याति चारित्र आदि** तत्त्वार्थ सूत्र में इसके 5 उपभेद कह गए हैं।

गुणस्थान एवं निर्जरा का परिमाण-

सम्यग्दृष्टि, पञ्चमगुणस्थानवर्ती श्रावक, विरत(मुनि), अनन्तानुबन्धी की कषायों की विरादना करने वाला, दर्शनमोह का क्षय करने वाला, चारित्र मोह का उपशम करने वाला, उपशान्त मोह वाला, क्षपकश्रेणी चढ़ता हुआ, क्षीणमोह वाला-12वां गुणस्थानवर्ती तथा जिनेन्द्र भगवान इन सबके परिणामों की विशुद्धता की अधिकता से आयु कर्म को छोड़कर प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा होती रहती है। कर्म निर्जरा के प्रसंग की 10 स्थितियों को तत्त्वार्थ सूत्र के 9वें अध्याय में इस प्रकार कहा गया है-

सम्यग्दृष्टि-श्रावक विरतानन्त-वियोजक-दर्शनमोह, क्षपकोपशमकोपशान्त-मोहक्षपक क्षीणमोह जिनाः क्रमशोसंख्येय-गुणनिर्जरा॥45॥

सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्त वियोजक, दर्शन मोह क्षपक (चारित्र मोह) उपशमक, उपशान्त (चारित्र) मोह, क्षपक और क्षीण मोह आदि अवस्थाएँ उपर्युक्त सूत्र में स्पष्ट की गई हैं जिनकी समानता गुणस्थान के सोपानों के साथ एक सीमा तक की जा सकती है। यदि अनन्त वियोजक को अप्रमत्तसंयत, दर्शनमोहक्षपक को अपूर्वकरण, उपशमक (चारित्र मोह) को अनिवृत्तिकरण और क्षपक को सूक्ष्म सम्पराय मानें तो गुणस्थान के साथ इनकी तुलना की जा सकती है। क्षपक श्रेणी को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि दर्शनमोहक्षपक की स्थिति अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान जैसी है किन्तु समस्या यहाँ उत्पन्न होती है

कि आठवें गुणस्थान से क्षपक श्रेणी आरम्भ होती है जबकि तत्त्वार्थसूत्र में यहाँ दर्शनमोह का पूर्ण क्षय मान लिया गया है। गुणस्थानों में क्षीणमोह 12वाँ गुणस्थान है। तत्त्वार्थसूत्र के रचियता उमास्वामिजी संभवतः दर्शनमोह व चारित्रमोह दोनों में पहले उपशम फिर क्षय मानते हैं।

तप- तप से निर्जरा व संवर दोनों होते हैं। वासनाओं को क्षीण करने तथा समुचित आध्यात्मिक शक्ति की साधना के लिए शरीर, इन्द्रिय व मन को जिन-जिन उपायों से तपाया जाता है वह तप है। तप मुख्यतः दो प्रकार के हैं- बाह्य तप और अभ्यन्तर तप। **तपसा निर्जरा च॥३॥**

बाह्य तप- जिसमें शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता हो वे बाह्य तप है। **अनशन,अवमौदर्य या उनोदरी, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्याशन और कायक्लेश आदि** इसके 6 भेद हैं।

अभ्यन्तर तप- आत्मा को शुद्ध करने वाले आन्तरिक तप अभ्यन्तर तप कहलाते हैं। **प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान** इनके 6 भेद कहे हैं। **प्रायश्चित्त तप के आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, छेद, परिहार और उपस्थान आदि 9 उप-भेद हैं। इसी प्रकार विनय तप के 4 उप-भेद हैं- ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय। वैयावृत्ति तप के आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल संघ तथा मनोज्ञ 10 उप-भेद हैं। स्वाध्याय तप के वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आमनाय और धर्मोपदेश आदि 5 भेद हैं। व्युत्सर्ग तप के 2 उप-भेद हैं- बाह्योपधिव्युत्सर्ग तथा आभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग। तथा ध्यान तप के 4 उप भेद हैं- आर्त, रौद्र, धर्म एवं शुक्ल ध्यान।**

ध्यान एवं गुणस्थान-

तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित आध्यात्मिक विकास की जो ध्यानादि स्थितियां उल्लिखित हैं उनकी भी तुलना गुणस्थान से की जा सकती है। **ध्यान तप का मुख्य लक्षण है चित्त को रोकना। एक पदार्थ ध्यान उत्तम संहननधारी जीवों के ही होता है जिसका काल अनतर्मुहुर्त से अधिक नहीं होता। गुणस्थान के आरोहण-पतन पथ में यह ध्यान देने योग्य है।**

आर्तध्यान- अनिष्ट पदार्थ का संयोग होने पर उसे दूर करने हेतु बार बार विचार करना(अनिष्ट संयोग), स्त्री पुत्रादि का वियोग होने पर उसके संयोग के बार बार चिन्ता करना(इष्ट वियोगज), रोगजनित पीड़ा का बार बार चिन्तवन करना(वेदनाजन्य) तथा आगामी काल सम्बन्धी विषयों की प्राप्ति में चित्त को तल्लीन करना(निदानज) आदि आर्तध्यान हैं। चौथे पाँचवें व छठवें गुणस्थानों में इनकी उपस्थिति होती है किन्तु छठे गुणस्थान में निदानज ध्यान का अभाव होता है।

रौद्र ध्यान- हिंसा, झूठ, चोरी और विषय संरक्षण (इनमें एवं इनसे सम्बन्धित साधन जुटाने में आनन्द लेना) से उत्पन्न हुआ ध्यान रौद्र ध्यान कहलाता है। यह अविरत (चौथे), देशविरत(पाँचवें) गुणस्थानों में होता है।

धर्म ध्यान- आज्ञाविचय(आगम की प्रमाणता से अर्थ का विचार करना), अपायविचय(संसार जीवों के दुःख का तथा उससे छूटने के उपायों का चिंतवन करना), विपाकविचय(कर्म के फल का-उदय का विचार करना) और संस्थानविचय(लोक के आकार का विचार करना) धर्म ध्यान के लक्षण कहे हैं। यह चौथे गुणस्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक श्रेणी चढ़ने के पहले तक होता है।

शुक्ल ध्यान- सामान्यतया धर्म विशिष्ट ध्यान को धर्म ध्यान तथा शुद्ध ध्यान को शुक्लध्यान कहा गया है। शुक्लध्यान के 4 भेद हैं- अर्थात् पृथक्त्ववितर्क (जिसमें वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान और विचार दोनों हों) तथा एकत्ववितर्क(जो सिर्फ वितर्क सहित है)- ये पूर्व ज्ञान धारी श्रुतकेवली के ही होता है। शेष दो में शामिल हैं- सूक्ष्मकाययोग के आलम्बन से होने वाला सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक शुक्लध्यान एवं व्युत्परतक्रियानिवृति नामक शुक्लध्यान जिससे आत्मप्रदेशों में परिस्पन्द पैदा करने वाली श्वासोच्छ्वास आदि समस्त क्रियाएं निवृत्त हो जाती हैं।

अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थान की अवस्थाओं में ध्यान की स्थिति निम्नवत् रहती है-

आर्तध्यान का सदभाव = तीनों अवस्थाओं में रहता है।

रौद्र ध्यान = अविरत व देशविरत अवस्था में होता है।

धर्म ध्यान = अप्रमत्त संयत को उपशान्त कषाय व क्षीण कषाय की अवस्था में होता है।

शुक्ल ध्यान = उपशान्त कषाय (उपशान्त मोह), क्षीण कषाय (क्षीण मोह) की स्थितियों में होता है।

तत्त्वार्थ सूत्र में 12वें - 14वें गुणस्थान की समकक्ष अवस्था का वर्णन-

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्चकेवलम॥ 1- अ. 10॥

मोहनीय कर्म का क्षय होने से अन्तर्मुहूर्त के लिए क्षीण कषाय नामक 12वाँ गुणस्थान पाकर एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय का क्षय होने से (4 घातिया कर्म) केवलज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञातव्य है कि मोक्ष (सिद्धत्व की प्राप्ति) केवलज्ञान पूर्वक ही हो सकती है। समस्त कर्म प्रकृतियों का अभाव ही मोक्ष है।

औपशमकादिभव्यत्वानां च ॥3॥ अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः ॥4॥

क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन, और सिद्धत्व के अतिरिक्त औपशमिक आदि भावों का अभाव होने से मोक्ष प्रकट होता है। 14 वें गुणस्थान की भी यही विशेषता है। तत्त्वार्थ सूत्र में सिद्धत्व की विशिष्टताओं के आधार पर मुक्त जीव में भेद किए गये हैं मुक्त जीव में भेद के कारण निम्न लिखित सूत्र द्वारा स्पष्ट किए गए हैं-

क्षेत्रकालगतिर्लिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबुद्धबोधितज्ञानवगाहान्तरसंख्याल्पबहुत्वतः साध्याः॥ 9॥

क्षेत्र- विभिन्न कर्म भूमियों(भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्र) से सिद्ध हो सकते हैं।

काल- अवसर्पिणी व उत्सर्पणी कालों में भी सिद्ध होते हैं।

गति- कोई सिद्ध गति से तथा कोई मनुष्य गति से सिद्ध हो सकते हैं।

लिङ्ग- भाव भेद का उदय नवम् गुणस्थान तक ही रहता है अतः मोक्ष अवेद अवस्था में ही होता है अर्थात् भावलिङ्ग की अपेक्षा तीनों लिङ्गों से ही मोक्ष हो सकते हैं अथवा द्रव्य पुल्लिङ्ग से।

तीर्थ- कोई तीर्थकर के साथ तथा कोई बिना तीर्थकर के सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार कोई तीर्थकर काल में तथा कोई तीर्थकरों के मोक्ष जाने के पश्चात(आम्नाय) से सिद्ध होते हैं।

चारित्र- सामान्यतया एक चारित्र किन्तु भूतपूर्व नय की अपेक्षा से तीन चारित्र से सिद्ध होते हैं।

बुद्धबोधित- कोई संसार से स्वयं विरत होते हैं तथा कोई किसी के उपदेश से।

ज्ञान-कोई एक ज्ञान से तथा कोई भूतपूर्व नय की अपेक्षा से दो तीन और चार ज्ञान से सिद्ध होते हैं।

अवगाहना-कोई उत्कृष्ट अवगाहना (पाँच सौ धनुष), कोई मध्यम अवगाहना तथा कोई जघन्य(साढ़े तीन हाथ से कुछ कम) अवगाहना से सिद्ध होते हैं।

अन्तर- एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध के मध्य का समय अन्तर कहलाता है जो जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से आठ समय है जबकि विरह काल जघन्य से एक समय तथा उत्कृष्ट से छ माह का है।

संख्या- जघन्य से एक समय में एक ही जीव सिद्ध होता है और उत्कृष्टता से 108 जीव सिद्ध हो सकते हैं।

अल्पबहुत्व- समुद्र आदि जल क्षेत्रों से थोड़े सिद्ध होते हैं और विदेह क्षेत्रों से अधिक। यह कल्पना बाह्य भेद की अपेक्षा से है जबकि आत्मीय गुणों की दृष्टि से कोई भेद नहीं होता।

उपसंहार-

तत्त्वार्थसूत्र शैली पर बौद्ध परम्परा व योग दर्शन व्यवस्थाओं का भी प्रभाव हो सकता है। बौद्ध दर्शन में आध्यात्मिक विकास की 4 भूमियां, योगवशिष्ठ की 7 स्थितियों की तरह उमास्वामिकृत तत्त्वार्थसूत्र में आत्मशुद्धि की 10 विधि, चतुर्विधि व सप्तविधि को आधार बनाया गया है। तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ गुणस्थान की विषयवस्तु से काफी कुछ समानता रखता है। आचार्य कुन्द- कुन्द रचित कसाय पाहुड़ के समान तत्त्वार्थसूत्र में भी गुणस्थान नाम का शब्द नहीं मिलता है। कसाय पाहुड़ में उपलब्ध गुणस्थान से सम्बन्धित शब्द मिथ्यादृष्टि, सम्यग् मिथ्यादृष्टि (भिन्न), अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत /विरता-विरत (संयमासंयम) , विरतसंयत उपशान्त कषाय एवं क्षीण मोह की तुलना में तत्त्वार्थसूत्र में सम्यग्-मिथ्यादृष्टि की धारणा नहीं है किन्तु अनन्तवियोजक नाम की अवधारणा है जिसका कसाय पाहुड़ में अभाव है। तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित नैतिक विकास की यात्रा नियतक्रम में जीव के आरोहण प्रवाह को स्पष्ट करती है। इसमें कहीं से भी जीव के पतनोन्मुख होने का विधान नहीं मिलता। जहाँ उमास्वामिजी ने इस ग्रंथ में यह माना है कि उपशम-उपशान्त- क्षपण व क्षय कर्म विशुद्ध का साधन है वहीं इसका खण्डन गुणस्थान सिद्धान्त में देखने को मिलता है यथा- दसवें गुणस्थान में जीव यदि नियत कर्मों का उपशम करता है तो ग्यारहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है जो कि इस यात्रा में पतनोन्मुख होने का अंतिम सोपान है और यदि वह दसवें गुणस्थान में उपशम की जगह उन कर्मों का क्षय करता है तो क्षीण मोह नामक 12वें गुणस्थान में आरोहण कर लेता है जहाँ पर या जहाँ से आगे पतन की सम्भावनाएं समाप्त हो जाती है तथा सिद्धात्म की प्राप्ति निश्चित हो जाती है।

संदर्भ

- I. श्री तत्त्वार्थसूत्रम्- टीका-हरिभद्र, ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम सं. 1662.
- II. तत्त्वार्थसूत्र, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोधसंस्थान, वाराणसी 1984. नवम अध्याय-9
- III. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (सिद्धसेनगणि कृत भाष्यानुसारिणिका समलंकृत, हीरालाल रसिकलाल कापड़िया की टीका।
- IV. तत्त्वार्थश्लोकावार्तिकम्- विद्यानन्दी, निर्णयसागर प्रेस। 1998
- V. पं. सुख लाल संघवी 'तत्त्वार्थसूत्र विवेचन सहित- टीका', पृ. 187-190 पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी।

दीपा जैन

मानद शोध निदेशक

जनसहभागिता विकास संस्थान

जयपुर

डॉ. लोकेश जैन

प्रोफसर

ग्रामीण प्रबंध विभाग

प्रबंधन एवं प्रोद्योगिकी संकाय

गूजरात विद्यापीठ

Copyright © 2012 - 2018 KCG. All Rights Reserved. | Powered By: Knowledge Consortium of Gujarat